।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय।।

# धर्म का वास्तविक स्वरूप


संकलनकर्त्ता एवं व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंसजी महाराज का कृपा-प्रसाद

**स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी**

**श्री परमहंस आश्रम**

शक्तेषगढ़ (चुनार-राजगढ़ रोड), जिला- मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश, भारत



प्रकाशक :

**श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट**

न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं. ५, मोगरा लेन (रेलवे सब-वे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई- ४०००६९, भारत

Thursday, July 9, 2020

।। ॐ ।।

# धर्म का वास्तविक स्वरूप

सम्पूर्ण भारत में अनादि काल से धर्म की एक ही परिभाषा रही है जिसमें ईश्वर एक, साधना एक, अन्त में परिणाम एक - उस ईश्वर में स्थिति, जिसके विधि की जागृति सद्गुरु से है। मनुष्य की सम्पूर्ण लौकिक समस्याओं का हल, सुखमय जीवन तथा परम श्रेय की प्राप्ति धर्म की देन है। धर्म का शास्त्र स्वयं महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त है जिसकी व्याख्या तत्वदर्शी वरिष्ठ महापुरुषों के क्षेत्र की वस्तु है। किन्तु विगत दो हजार वर्षों से मुख्यतः पुष्यमित्र शुंग काल से, जब से धर्म का निर्णय शिक्षाविद् आचार्यों द्वारा होने लगा, धर्म में विकृतियाँ पनपने लगीं। आजकल धर्म के नाम पर देशभक्ति धर्म, सद्व्यवहार धर्म, समाजसेवा को धर्म माना जा रहा है जबकि ये धर्म नहीं हैं। कोई कहता है- वर्ण और आश्रम सनातन धर्म हैं जिसके अनुसार शूद्र वेदवाक्य पर विचार करे तो नर्क जाय। जो उसको उपदेश करे, वह भी नर्क जाय। शूद्र को इस जन्म में भजन करने का, वेद पढ़ने का या ओम् कहने का अधिकार ही नहीं है। वह वनदेवी, वनदेवताओं की पूजा करे। वैश्य लक्ष्मी की पूजा करे। क्षत्रिय दुर्गा की पूजा करे। ब्राह्मण सरस्वती की पूजा करे। भगवान की पूजा करने का निर्देश किसी को नहीं है। किसी ने भोजन और जल का स्पर्श कर लिया तो धर्म नष्ट, कोई समुद्र पार चला गया तो धर्म नष्ट! विदेशी जलमार्ग और स्थलमार्गों से आये, खान-पान छुआ तो करोड़ों लोग धर्मभ्रष्ट हो गये। सब आपके सगे भाई हैं। रो-रोकर उन्होंने आपको छोड़ा है और रो ही रोकर आपके पूर्वजों ने उनको छोड़ा है। वह धर्म नहीं था, एक कुरीति थी। यदि वही धर्म था तब तो आज सबने सबको छू लिया, अब सबका धर्म क्यों नष्ट नहीं हो रहा है? विगत हजार वर्षों में हिन्दू ही टूटा है, जुड़ा कोई नहीं। वर्ण को जाति मानने की ही

देन है कि लोग हिन्दू धर्म को छोड़-छोड़कर भागते जा रहे हैं। भारत विश्वगुरु कहा जाता है किन्तु भारत के धर्मगुरु विदेशियों को अपने धर्म में स्थान नहीं दे सके।

भगवान महावीर, भगवान बुद्ध और सैकड़ों महापुरुषों ने धर्म बताने का प्रयास किया तो धर्माचार्यों ने कहा कि वे सब नास्तिक हैं। जैन मंदिर में जाने से धर्म नष्ट... बौद्ध विहार में जाने से धर्म नष्ट...। समुद्र के लहरों की तरह नष्ट-नष्ट की बाढ़ आ गयी, सुधार का तरीका ही नहीं बचा। उद्धार का तरीका केवल इतना ही कि ब्राह्मण को दान दे दो। स्थितप्रज्ञ विप्र को लोग भूल गये। विप्रत्व का निर्धारण जन्म से होने लगा। साधना के क्रमोन्नत सोपान वर्ण को धर्माचार्यों ने जन्मना जाति-व्यवस्था घोषित कर दिया। इसी को भगवान द्वारा निर्धारित स्वधर्म कहकर चला दिया जिससे मानव-मानव में संघर्ष, घृणा, फूट, राग-द्वेष की भावना पनप गयी। विश्व में धर्म के नाम पर कोई इधर मार-काट कर रहा है, कोई उधर। यह धर्म मृत्यु दे रहा है जबकि धर्म मृत्यु नहीं, जीवन देता है।

इसी क्रम में धर्म के नाम पर मंदिरों के कुछ मुकदमे सर्वोच्च न्यायालय में गये तो शीर्ष न्यायालय ने निर्णय दिया कि हिन्दू तो कोई धर्म ही नहीं है। यह तो मात्र जीवन-यापन शैली है क्योंकि इसमें एक ईश्वर नहीं है, एक उपासना-पद्धति नहीं है जिसका सब पालन कर सकें, एक धर्मशास्त्र नहीं है जिसे सब मानें, एक धर्मगुरु नहीं है जिससे सभी सुझाव ले सकें। विश्वगुरु की उपाधि से विभूषित भारत के नागरिकों को सुनकर कैसा लगता है कि हिन्दू कोई धर्म है ही नहीं?

धर्म के नाम पर जैसी कुरीतियाँ आजकल हैं, कुछ इसी प्रकार की रूढ़ियाँ श्रीकृष्ण काल में भी थीं जिनमें से कुछेक का प्रभाव अर्जुन पर भी था। महाभारत युद्ध आरम्भ होने से पूर्व दोनों ही सेनाओं में गुरुजनों तथा अपने परिजनों को देखकर उसने कहा- माधव! स्वजनों को मारकर मैं कैसे सुखी होऊँगा? ऐसे युद्ध से तो कुल का संहार हो जायेगा। कुल के क्षय से कुल की स्त्रियाँ दूषित

हो जायेंगी, वर्णसंकर पैदा होंगे जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। कुलक्षय से पिण्डोदक क्रिया भी लुप्त हो जायेगी जिससे पितर गिर जायेंगे। हम समझदार होकर भी ऐसा पाप करने को उद्यत हुए हैं। हमें इससे बचना चाहिए। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जाएगा।

## १. गीतोक्त धर्म-

भगवान ने कहा- क्या है सनातन धर्म? अर्जुन ने बताया- **'कुलधर्माः सनातनाः'** (गीता, १/४०), **'जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः'** (गीता, १/४३)- जातिधर्म सनातन है। कुलधर्म सनातन है। भगवान ने हँसते हुए से कहा- **'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।'** (गीता, २/२) अर्जुन! तुझे इस विषम स्थल में यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? यह न तो कीर्ति बढ़ानेवाला है, न परम कल्याण करनेवाला है, न ही वरिष्ठ महापुरुषों ने ऐसा आचरण किया है। **'अनार्यजुष्टम्'** (गीता, २/२)- अनार्यों का यह आचरण तूने कहाँ से सीख लिया? जिसमें कल्याण नहीं, कीर्ति नहीं, सम्भावित पुरुषों ने भूल कर भी जिस पथ पर कदम नहीं रखा, सिद्ध है वह अज्ञान है। तब अर्जुन ने कहा- यदि यह सब अज्ञान है तो **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।'** (गीता, २/७)- कायरता के दोष से नष्ट स्वभाववाला **'धर्मसम्मूढचेताः'**- धर्म के विषय में सर्वथा मोहित चित्त मैं आपसे पूछता हूँ, जो कुछ निश्चित परम कल्याणकारी हो, वह साधन मेरे लिए कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। मुझे साधिये। केवल शिक्षा न दीजिए बल्कि जहाँ लड़खड़ाऊँ, वहाँ सँभालिए। यहाँ अर्जुन ने पूर्ण समर्पण कर दिया। अभी तक वह श्रीकृष्ण को अपने स्तर का ही समझता था। अनेक विद्याओं में अपने को कुछ आगे ही मानता था। यहाँ उसने अपनी बागडोर श्रीकृष्ण को सौंप दिया।

इस प्रकार गीता का पहला प्रश्न धर्म है। अर्जुन की शंका धर्म है। उसी धर्म का भगवान ने गीता में निर्णय दिया। पहले तो अर्जुन तर्क पर तर्क करता चला गया, जब एकादश अध्याय में भगवान ने उसे दिव्य दृष्टि प्रदान की, उसने

भगवान को देखा, तब वह समझ पाया कि कुलधर्म सनातन नहीं है। उसने कहा- भगवन्! आप **'शाश्वतधर्मगोप्ता'** (गीता, ११/१८)- शाश्वत धर्म के रक्षक हैं; **'सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'**- आप सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार गीता भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन की दृष्टि प्रदान करती है। वह दृष्टि आप सबके लिए सुलभ है।

भगवान ने कहा- अर्जुन! **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।'** (गीता, २/१६) अर्जुन! सत्य वस्तु का तीनों काल में अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। असत्य का अस्तित्व नहीं है। क्या है सत्य? भगवान ने बताया- एक आत्मा अर्थात् परमात्मा ही सत्य है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है। वह शाश्वत है, अजर-अमर है, अपरिवर्तनशील है, वही सनातन पुरुष है। हम-आप कौन हैं? सनातनधर्मी। सनातन कौन है? आत्मा। इसलिए यदि उस आत्मा, परमात्मा के प्रति कोई श्रद्धावान् नहीं तो वह धार्मिक भी नहीं है। अतः उस परमात्मा को धारण कर लेना ही धर्म है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- **'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'** (गीता, २/२९)- कोई विरला महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, विरला ही इसके रहस्य का कथन करता है, विरला ही सुनता है और बहुत से सुनकर भी नहीं जान पाते क्योंकि उतना समय नहीं दे पाते। अर्थात् वह परमात्मा एक प्रत्यक्ष दर्शन है।

भगवान ने बताया कि वह आत्मा अकाट्य, अशोष्य और अपरिवर्तनशील है किन्तु वह **'अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम्'** (गीता, २/२५) अव्यक्त और अचिन्त्य है अर्थात् जब तक चित्त और चित्त में संकल्प-विकल्प की लहर है, तब तक वह अगोचर है, मन और इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता।

अब एक नवीन प्रश्न आ गया कि चित्त का निरोध कैसे हो? इसके लिए योगेश्वर ने कहा- अर्जुन! तू युद्ध कर। क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कल्याण का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति

को खोकर पाप को प्राप्त होगे। इस युद्ध में जीतोगे तो महामहिम स्थिति मिलेगी, हारोगे तो देवत्व मिलेगा। जय में सर्वस्व और पराजय में भी देवत्व है। इस प्रकार लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए प्रवृत्त हो। यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि अपने बलाबल का निर्णय लेकर, लाभ-हानि का निर्णय लेकर युद्ध में प्रवृत्त होना ज्ञानमार्ग है।

**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।**
**बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।** (गीता, २/३९)

अब तू इसी को निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन जिससे युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को भली प्रकार नष्ट करेगा। स्पष्ट है कि कर्म उसे कहते हैं जो कर्म-बन्धन से छुड़ा दे।

गीतोक्त कर्म में है- **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** (गीता, २/४०) इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता। इसे आरम्भ कर दें तो उस पुरुष का और इस क्रिया का कभी नाश नहीं होता। यह कल्याण करके ही छोड़ता है। अभी हुआ नहीं, किन्तु कल्याण का आरक्षण भली प्रकार हो चुका। इस जन्म में जहाँ से साधन छूटता है, अगले जन्म में साधन वहीं से आगे बढ़ते हुए दो-चार जन्मों के अन्तराल से वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परम गति है।

इसी कर्म में है कि- **'प्रत्यवायो न विद्यते'**-इस कर्म को करने से विपरीत और सीमित फलरूपी दोष भी नहीं मिलता कि आपको स्वर्ग-बैकुण्ठ, रिद्धि-सिद्धि इत्यादि में उलझा कर खड़ा कर दे। अतः **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** (गीता, २/४०)- इस कर्म से सम्पादित धर्म का स्वल्प अभ्यास जन्म-मृत्यु के महान भय से उद्धार करने वाला होता है, लक्ष्य तक पहुँचा कर दम लेता है। माया स्वरचित तो घटा-बढ़ा सकती है लेकिन यह कर्म भगवान के द्वारा संचालित होता है, माया हस्तक्षेप कर ही नहीं सकती, घटा कहाँ से देगी! इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।

**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'** (गीता, २/४१)- अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चियात्मिका क्रिया एक है, बुद्धि एक है। तो जो बहुत सी क्रियाएँ बताते हैं, क्या वे भजन नहीं करते? भगवान कहते हैं- नहीं, वे अविवेकी हैं। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं को गढ़ लेते हैं, दिखावटी शोभायुक्त वाणी में व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिन-जिनके चित्त पर पड़ जाती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है; न कि वे कुछ पाते हैं। वे **'वेदवादरताः'** (गीता, २/४२)- वेद के वाद-विवाद में, फलासक्ति में अनुरक्त रहते हैं कि इस कर्मकाण्ड का यह फल मिलेगा, **'स्वर्गपरा'** (गीता, २/४३)- स्वर्ग को ही सर्वोपरि मानते हैं। वे अनन्त जन्म-मृत्युरूपी फल को प्राप्त होते हैं।

वेद को भली प्रकार आचरण में ढाला, लेकिन जन्म-मृत्यु से पीछा नहीं छूटा। भगवान कहते हैं- **'त्रैगुण्यविषया वेदा'** (गीता, २/४५)- अर्जुन! वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। इसके आगे का हाल नहीं जानते इसलिए **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'**- तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों के कार्यक्षेत्र से आगे बढ़। कैसे बढ़ा जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं- **'निर्द्वन्द्वः'**- सुख-दुःख के द्वन्द्व से रहित, नित्य सत्य वस्तु में स्थित और योगक्षेम को न चाहता हुआ आत्म-परायण हो, इस प्रकार ऊपर उठ। प्रश्न स्वाभाविक है कि हम ही उठें या कोई वेदों से ऊपर उठा भी है। श्रीकृष्ण बताते हैं कि जो भी उठता है, ब्रह्म को जानता है; और जो ब्रह्म को जानता है, वह विप्र है। सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। संक्षेप में जो वेदों से ऊपर उठता है, ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। ब्राह्मण एक स्थिति है।

भगवान कहते हैं- मुझे गीतोक्त विधि से भजकर लोग स्वर्ग की कामना करते हैं, मैं देता हूँ। भोगने में आता है, और नष्ट हो जाता है। नश्वर ही तो माँगा था। शाश्वत तो हो नहीं जायेगा। स्वर्ग आयेगा, सामने से गुजरेगा, स्वर्ग

का कार्यकाल पूरा हुआ, नष्ट हो गया तो वहीं पर आ गया जहाँ से साधन आरम्भ किया था। स्वर्ग तो नष्ट हो गया किन्तु उस भक्त का कभी विनाश नहीं होता क्योंकि गीतोक्त विधि से भजकर माँगा है, मुझसे माँगा है। मेरे पथ में आरम्भ का नाश नहीं। माँगी वस्तु मिलेगी, भोगने में आयेगी, साधना यथावत् आगे चलती रहेगी। इस कल्याणकारी कर्म को करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता (गीता, ६/४०), अर्जुन! अगले जन्म में उस बुद्धि-संयोग को प्राप्त कर लेता है, साधना यथावत् चलने लगती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- **'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।'** (गीता, ७/२८)- **'पुण्यकर्मणाम्'**- जो आपको पूर्णत्व प्रदान करे वह पुण्य कर्म कहलाता है; शास्त्रविधि से नियत है तो नियत कर्म; भगवान के निमित्त है तो तदर्थ कर्म; मेरे प्रति समपर्ण करके चले- मदर्थ कर्म; दुर्लभ मानव तन मिला है तो कर्तव्य पथ यही है इसलिए कार्यम् कर्म! कार्यम् कर्म, गीतोक्त कर्म, नियत कर्म इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं। अस्तु, पुण्य कर्म को करने वाले, व्रत में दृढ़ रहकर भजने वाले जिन भक्तों का इच्छा और द्वेष से उत्पन्न अज्ञान नष्ट हो गया है, जो जरा-मरण से छूटने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं। गीतोक्त कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो सम्पूर्ण ब्रह्म को विदित करा देता है। वे सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को जानते हैं। हर जीव माया के आश्रित है। माया जैसा चाहती है, नाच नचाती रहती है। उसके पंजे से निकालकर आत्मा की अधिकृत भूमि में खड़ा कर देना अध्यात्म की प्रवेशिका है। आत्मा के ही संरक्षण में चलते हुए परम तत्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन और स्थिति दिलाना अध्यात्म की पूर्णता है। उसमें आत्मा का आधिपत्य पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया। वह साधक सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण अधिदैव और सम्पूर्ण अधियज्ञ सहित मुझको जानता है। मुझे जानकर मुझमें स्थित हो जाता है, वह मेरे सहज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसा भगवान वैसा ही वह साधक। इस प्रकार गीतोक्त नियत कर्म की देन है सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण अधिदैव, सम्पूर्ण

अधियज्ञ सहित भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन। मन का निरोध क्या देश की व्यवस्थाओं को सुचारु करने से होगा?, व्यवसाय या अन्य किसी भौतिक कार्य से मिलेगा? वास्तव में कर्म एक साधना पद्धति है।

इसी को पुनः स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा- **'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।'** (गीता, ४/१६)- कर्म क्या है?, अकर्म क्या है?- इस सम्बन्ध में विवेकी पुरुष भी मोहित हैं, इसलिए मैं तुझे उस कर्म का रहस्य भली प्रकार बताऊँगा जिसे जानकर तू **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'**- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से भली प्रकार मुक्त हो जायेगा। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो संसार-बन्धन से मोक्ष देती है।

कुछ भी कर डालना कर्म नहीं है। कर्म की एक नियत विधि है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।'** (गीता, ३/८)- अर्जुन! शास्त्रविधि से निर्धारित किये हुए कर्म को कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यदि कर्म नहीं करोगे तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो शरीर-यात्रा को पूर्ण करता है। यह आत्मा जन्म-जन्मान्तरों से शरीर यात्रा ही तो कर रहा है, इस शरीर से उस शरीर में ही तो जा रहा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो यह यात्रा पूर्ण करती है। यदि एक जन्म और लेना पड़ा तो एक पड़ाव तक की यात्रा बाकी है; पूर्ण कहाँ हुई? अर्थात् भविष्य में जन्म न लेना पड़े, गर्भवास से मोक्ष मिल जाये, कर्म की यही देन है।

## २. गीतोक्त यज्ञ -

प्रश्न ज्यों का त्यों है कि वह नियत कर्म क्या है जिसे हम करें? भगवान ने बताया- **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** (गीता, ३/९) यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। वह आचरण कर्म है जिससे यज्ञ सम्पन्न होता हो। अतः यज्ञ कोई निश्चित विधि होनी चाहिये। प्रश्न उठता है- दुनिया में लोग रात-दिन व्यस्त हैं, खून-पसीना एक करके कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, क्या वे कर्म

नहीं करते? भगवान ने बताया- **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**- इस यज्ञ के सिवाय अन्य जो कुछ किया जाता है, इस लोक का बन्धन है, इस लोक में बाँध कर रखने के लिए एक उपाय है इसलिये उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संगदोष से अलग रहकर भली प्रकार आचरण कर, तू मुझे प्राप्त होगा।

अब एक नवीन प्रश्न आ गया कि यज्ञ समझ में आये तो कर्म का पालन हो। किन्तु यज्ञ न बताकर पहले भगवान बताते हैं कि यज्ञ आया कहाँ से? यज्ञसहित सृष्टि को रचकर विधाता ने कहा- इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त हो। इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की उन्नति करो, देवता तुम्हारी उन्नति करें, परस्पर उन्नति करते हुए परम श्रेय को प्राप्त हो जाओ। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **'द्वौ भूतसर्गौं लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।'** (गीता, १६/६)- अर्जुन! संसार में मनुष्य दो प्रकार का होता है- देवताओं जैसा और असुरों जैसा। जिसके हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह देवता है। जिसमें आसुरी सम्पद् कार्य करती है, वह असुर है। अर्जुन! तू शोक मत कर, तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, तू मुझे प्राप्त होगा, मेरे अविनाशी ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त होगा।

वाह्य देवताओं के सम्बन्ध में गीता के सातवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा-

**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।**
**तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।'** (गीता, ७/२०)

कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त हो जाती है, ऐसे अविवेकी जन अन्य-अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। जहाँ पूजा करते हैं, वहाँ देवता नाम की कोई सक्षम सत्ता नहीं है जो आपकी सहायता करे; किन्तु मैं सर्वत्र हूँ। मनुष्य की श्रद्धा जहाँ झुक जाती है, उसकी देव-श्रद्धा को मैं ही पुष्ट करता हूँ, उनके लिए फल का विधान करता हूँ। फल भी तत्काल मिलता है, भोगने में आता है और नष्ट हो जाता है। वह फल ही किस काम का, जो नष्ट हो जायँ? मनुष्य की बुद्धि फल तक ही सीमित रहती है। यदि फल मिल ही जाता है तो देव-पूजा में क्षति कैसी? भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! देवपूजक मेरे ही पुजारी हैं

किन्तु वह पूजा अविधिपूर्वक है इसलिए वे नष्ट हो जाते हैं जबकि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। अतः जब पूजा ही करनी है तो विधिपूर्वक क्यों नहीं करते? वह विधि है हम दोनों का संवाद यह गीता-शास्त्र। इसे जो इन भटके हुए भक्तों में कहेगा, उसके समान मेरा प्रिय कार्य करने वाला और कोई नहीं होगा। उसके द्वारा मैं पूजित हो जाऊँगा। वह मुझे प्राप्त होगा, मेरे सहज अविनाशी पद को प्राप्त करेगा।

वस्तुतः हृदय में दैवी सम्पद् का उत्कर्ष ही देव-पूजा है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हृदय में दैवी सम्पद् को बलवती करना यज्ञ है। श्रद्धा, समर्पण, इस यज्ञ का आचरण, धारणा, ध्यान, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, अन्तःकरण की सरलता, अहिंसा, सत्य, क्षमा इत्यादि दैवी सम्पद् हैं। ये गुण परमदेव परमात्मा तक की दूरी तय कराते हैं। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् बलवती होगी, वही तुम्हारा बल है। उत्कर्ष करते-करते जहाँ मूल का स्पर्श किया, देवताओं सहित साधक भी मुक्त हो जाता है। जनकादि जितने भी ऋषि हुए इसी कर्म को करके परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। जनक का आशय राजा जनक से नहीं, जनक जन्मदाता को कहते हैं। योग ही जनक है जो आपके स्वरूप को जन्म देता है, प्रकट करता है। योग से संयुक्त प्रत्येक महापुरुष जनक है।

प्रश्न उठता है कि यज्ञ अर्थात् चिन्तन हम करते ही रहेंगे या कभी चिन्तन-भजन पूर्ण भी होगा? भगवान बताते हैं- कर्म के परिणाम में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, जो आत्मस्थित है, उस पुरुष के लिए किंचित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है। अब कर्म करने से न लाभ है, न छोड़ने से क्षति है। फिर भी वे महापुरुष जनहित के लिये, पीछेवालों के कल्याण के लिये भली प्रकार कर्म में बरतते हैं। उन्हें स्वयं के लिए इस कर्म का कोई उपयोग नहीं है। लेकिन गीता के तीसरे अध्याय तक भगवान ने यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है?

अध्याय चार में यज्ञ को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा- अर्जुन! जो आत्मतृप्त, आत्मस्थित हैं, उनके लिये **‘ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**

**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।'** (गीता, ४/२४)- ऐसे मुक्त पुरुष का समर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म ही है अर्थात् ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूपी कर्ता द्वारा जो हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म ही हैं। **'ब्रह्मकर्म-समाधिना'** (गीता, ४/२४)- जिसके कर्म ब्रह्म का स्पर्श करके समाधिस्थ हो चुके हैं, ऐसे महापुरुष के लिए जो गन्तव्य है, उसमें वह स्थित ही है इसलिए वह भी ब्रह्म ही है। वह कर्ता-धर्ता कुछ नहीं, केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म में बरतता है।

यह तो प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण हैं किन्तु प्रारम्भिक साधक कौन सा यज्ञ करते हैं? भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन! **'दैवमेवापरे यज्ञम्'** (गीता, ४/२५)- बहुत से योगी हृदय में दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं जो परमदेव परमात्मापर्यन्त दूरी तय कराती है। बहुत से योगी लोग इन्द्रियों के बर्हिमुखी प्रवाह को 'संयमाग्निषु जुह्वति'- संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं क्योंकि आँखों ने कुछ देख लिया, कानों ने कुछ सुन लिया तो एक विषय दे गया। शब्दादिक विषयों को **'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'** (गीता, ४/२६) उनके आशय को बदलकर साधनापरक बना लेना इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन है।

महाभारत का आख्यान है कि अर्जुन अस्त्र-शस्त्र की खोज में देवलोक गया। इन्द्र ने कहा- यह मेरा पुत्र है, इसका भव्य स्वागत किया जाय। उन्होंने देवलोक की सर्वश्रेष्ठ नृत्यांगना उर्वशी को बुलाया। उर्वशी के आते ही समस्त देवताओं की दृष्टि उस ओर घूम गयी। अर्जुन ने सोचा- बात क्या है! उसने भी घूमकर देखा तो देखता ही रह गया। नृत्य के समापन पर भी अर्जुन मूर्तिवत् बैठा ही रहा। देवताओं ने कहा- देवेन्द्र! आप तो कहते थे- 'मेरा पुत्र जितेन्द्रिय है, तपोधन है, महान ज्ञानी है, संयमी पुरुष है' किन्तु जब से यह उर्वशी आयी है, यह उसी को देखे चला जा रहा है। इसको यह भी भान नहीं है कि यह देवसभा है। इसे तो मर्यादा का भी ज्ञान नहीं है। इन्द्र ने कहा- तुम ठीक कहते हो। अर्जुन से ही पूछो कि उसने क्या देखा? जब अर्जुन से पूछा गया कि नृत्य कैसा रहा? तब उसे होश आया। उसने सादर प्रणाम कर कहा- देवेश्वर! क्षमा

करें। हमने कोई नृत्य नहीं देखा। माता कुन्ती से बिछुड़े हमलोगों को कई वर्ष व्यतीत हो गये हैं। हमने सोचा कि माताजी चली आ रही हैं, हो सकता है वह यहाँ आ गयी हों। मैं तो माताजी के पवित्र चरणों के दर्शन कर रहा था।

देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई किन्तु उर्वशी आगबबूला हो गयी। उसने इस कथन को अपना अपमान समझा और मन ही मन अर्जुन को पराभूत करने का निश्चय कर लिया। इन्द्र ने कहा– अर्जुन! अभी तुम्हें एक अस्त्र का ज्ञान नहीं है। अर्जुन ने कहा– वह क्या? इन्द्र ने कहा– गंधर्व अस्त्र। अर्जुन ने कहा– ये कैसा अस्त्र? इन्द्र ने कहा– इसे भी एक अस्त्र ही समझो। अज्ञातवास में तुम्हारे सभी भाई तो छिप सकते हैं, किन्तु तुम नहीं छिप सकते। इस अस्त्र की आड़ में तुम छिप जाओगे। इन्द्र के निर्देशानुसार चित्ररथ गंधर्व उसे नृत्य, संगीत इत्यादि की शिक्षा देने लगे। उर्वशी नृत्य द्वारा उसका सहयोग करने लगी। अर्जुन ने शीघ्र ही शिक्षा प्राप्त कर लिया। चित्ररथ ने कहा– अर्जुन! मेरे शिष्यों में तुम सर्वोपरि हो। इतना लोच किसी में नहीं था जो तुम्हारे हाथ-पाँव में है। उर्वशी ने अर्जुन को प्रणाम किया। अर्जुन ने कहा– मातेश्वरी! आप कब आयीं यहाँ? उर्वशी ने कहा– इतने दिनों से मैं यहाँ नृत्य कर रही हूँ, तुमने देखा नहीं? अर्जुन ने कहा– हमें नहीं मालूम। पता चलता तो मैं पहले ही प्रणाम कर लेता। उर्वशी ने कहा– अर्जुन! मैं तुम्हारे यहाँ मृत्युलोक में रह सकती हूँ, मुझसे विवाह कर लो। अर्जुन ने कहा– माताजी! एक पुत्र जो सेवा कर सकता है, मैं तैयार हूँ। माता के मुख से अपशब्द शोभा नहीं देता। अर्जुन पर कोई प्रभाव पड़ता न देख उर्वशी ने कहा– यदि हमारा प्रस्ताव स्वीकार नहीं है तो जाओ, नपुंसक हो जाओ। इन्द्र दोनों को देख रहा था, बोला– उर्वशी! तुम्हारी परीक्षा में कोई उत्तीर्ण हो गया, उसने कोई अपराध तो नहीं किया! तुमने श्राप क्यों दिया? उर्वशी बोली– देवेश्वर! हमने सोचा, हमारी हार आपकी हार है इसलिए मैं आपा खो बैठी। इन्द्र ने कहा– अपने श्राप की अवधि निश्चित करो। उर्वशी ने कहा– यह श्राप एक वर्ष के लिए ही रहेगा। इन्द्र ने कहा– अर्जुन! जिस दिन एक वर्ष का अज्ञातवास शुरू होगा, उस दिन से यह श्राप फलीभूत होगा और जिस दिन

अज्ञातवास पूरा होगा, दिव्यास्त्रों के साथ तुम पुनः अपने योद्धा स्वरूप में आ जाओगे। उर्वशी के श्राप का ही परिणाम था कि अज्ञातवास के समय कुरुवंश के सैकड़ों गुप्तचर गाण्डीवधारी योद्धा को ढूँढ़ रहे थे जबकि वह विराट नगर के रनिवास में संगीत सिखा रहा था। एक वर्ष कैसे निकल गये, अर्जुन को पता ही नहीं चला। श्राप आशीर्वाद में बदल गया। भक्तों को श्राप नहीं लगता। 'हरिभक्तन के पास न आवे, भूत प्रेत पाखंड।' जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, देव-दानव, ग्रह-कुग्रह भक्त का कुछ भी बिगाड़ नहीं पाते क्योंकि भक्त के ऊपर भगवान का वरदहस्त रहता है। इस प्रकार शब्दादिक विषयों (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) द्वारा मिलने वाले विकारों का आशय बदलकर साधनापरक बना लेना इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन है, यज्ञ है।

**'सर्वाणिन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।'** (गीता, ४/२७)- इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, और प्राण भी कर्म करते हैं। अभी तक योगेश्वर ने जिस यज्ञ की चर्चा की, उसमें क्रमशः दैवी सम्पद् को अर्जित किया जाता है, इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं का संयम किया जाता है, विषयोत्तेजक शब्दादिकों के बलात् टकराने पर भी उनका आशय बदलकर उनसे बचा जाता है। इससे उन्नत अवस्था होने पर दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं तथा प्राण के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। मनुष्य विषयों में मन एकाग्र करता है, किन्तु योगीजन विषयों से मन हटाकर आत्मसंयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं।

इससे उन्नत अवस्था होने पर **'अपाने जुह्वति प्राणम्'** (गीता, ४/२९)- बहुत से योगी लोग श्वास को प्रश्वास में हवन करते हैं, प्रश्वास को श्वास में हवन करते हैं अर्थात् श्वास आई तो 'ओम्' गई तो 'ओम्', राम-राम-राम। देखा भर करें कि श्वास कब आई और क्या कहा? श्वास नाम छोड़कर कुछ कहती ही नहीं। अभ्यास करते-करते **'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः'** (गीता, ४/२९) श्वास-प्रश्वास की गति सम हो गयी अर्थात् न भीतर संकल्प

का अभ्युदय हो, न बाहर वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पायें। श्वास एकदम तैलधारावत् खड़ी हो गई। न भले उद्वेग उठते हैं, न बुरे। इसी का नाम प्राणायाम है। प्राणों की गति पर विराम लग गया। यह चित्त की निरोधास्था है।

## ३. गीतोक्त यज्ञ का परिणाम-

यह निरुद्ध चित्त भी जिस पल शान्त हुआ तो यज्ञ का परिणाम निकल आता है। **'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** (गीता, ४/३१) यज्ञ जो अवशेष छोड़ता है, उस ज्ञानामृत का पान करने वाला योगी सनातन ब्रह्म में स्थित हो जाता है। भगवान ने बताया- यह आत्मा ही अमृत तत्व है जिसमें मृत्यु का समावेश नहीं है। परमात्मा ही शाश्वत है, परम सत्य है और सनातन पुरुष है। मृत्यु से परे अमृत तत्व उस आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन, दर्शन के साथ मिलने वाली जानकारी वास्तविक ज्ञान है। उस ज्ञानामृत का पान करने वाला सनातन ब्रह्म में स्थित हो जाता है। अतः कर्म ऐसी वस्तु है जो सनातन ब्रह्म में स्थिति दिलाती है।

जिसके परिणाम में अमृत का भोजन है, सनातन ब्रह्म में स्थिति मिलती है, वह यज्ञ करने का अधिकार किसको है? **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।'** (गीता, ४/३१) यज्ञरहित पुरुष के लिये दुबारा मनुष्य तन भी सुलभ नहीं है? परलोक भला कैसे सुलभ होगा! अर्थात यज्ञ करने का अधिकार उनको है जिन्हें मानव तन उपलब्ध है। स्त्री-पुरुष कोई भी हों, कहीं जन्मे हों, कुछ भी कहलाते हों, यदि मनुष्य जन्में हैं तो आप यज्ञ करने के, गीतोक्त साधना करने के अधिकारी हैं।

**'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।'** (गीता, ४/३२) इस प्रकार हृदय में एक परमात्मा में निष्ठा का होना, यज्ञस्वरूप महापुरुष के द्वारा उनके संरक्षण में साधना को आगे बढ़ाना, दैवी सम्पद का हृदय में उत्कर्ष करते जाना, इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमाग्नि में, इन्द्रियाग्नि में, श्वास-प्रश्वास अग्नि में, योगाग्नि में हवन, लगभग

१३-१४ प्रकार की अग्नि बताया। ये सब साधना विधि हैं। ये सब यज्ञ जिस उपाय से सम्पन्न होते हैं, उस आचरण का नाम कर्म है। यह कर्म खेती करने से होता हो, नौकरी में कर्तव्य पालन करने से होता हो तो करें। यह तभी होगा जब आप गीतोक्त नियत कर्म समझ लेंगे। इस एक ही कर्मपथ को साधक के स्वभाव में पायी जाने वाली क्षमता के अनुसार भगवान ने चार भागों में बाँटा जिसका नाम वर्ण है। इस कर्म को कार्यरूप देना धर्म है, आपका दायित्व है। अतः ईश्वर को धारण करने का नाम ही धर्म है। इसे करने का अधिकार उन सबको है जिन्हें मानव तन उपलब्ध है।

## ४. भजन करने का अधिकार -

भगवान कहते हैं-

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।'** (गीता, ९/२९)

मैं सबमें सम हूँ। मेरा न कोई शत्रु है, न मित्र है। अनन्य भाव से जो मुझे भजता है, मैं उसमें हूँ, वो मुझमें है। बस यही एक रिश्ता है। भगवान को भजने के लिए पुण्य जैसी किसी पूँजी की आवश्यकता नहीं है, पाप जैसी कोई रुकावट नहीं है। भगवान का आश्वासन है कि- **'अपि चेत्सुदुराचारो....'** (गीता, ९/३०)- अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजता है तो वह साधु मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। यथार्थ में जो सत्य है, तत्व है, गीतोक्त नियत कर्म है, उसमें वह लग गया है, एक परमात्मा के प्रति समर्पित हो गया है, **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** (गीता, ९/३१)- वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है अर्थात् जिसने एक परमात्मा को धारण कर लिया, वह धर्मात्मा है। वह उनको धारण करने की क्षमतावाला हो जाता है, वह **'शश्वच्छान्तिं निगच्छति'**- सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। **'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'**- कौन्तेय! ध्रुवसत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

## ५. ईश्वर का निवास -

माना कि आत्मा ही शाश्वत, परमात्मा ही सनातन है, शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकती, लेकिन उन भगवान का निवास कहाँ है?, उसको ढूँढ़ने कहाँ जायँ? भगवान कहते हैं- **'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता, १३/१७)- वह ज्योतियों का भी ज्योति है। **'ज्ञानगम्यं'**- ज्ञान के द्वारा सबके लिए सुलभ और **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'**- वह सनातन आत्मा सबके हृदय में रहता है। जिन्हें हमें प्राप्त करना है, उनका निवास बैकुण्ठ में नहीं, आकाश में नहीं, हृदय में है। **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'** (गीता, १५/१५)- मैं सबके हृदय में समाविष्ट हूँ। **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** (गीता, १८/६१)- वह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। जब वह इतना समीप है, हृदय के अन्दर है तो हम उसे देखते क्यों नहीं? मायारूपी यंत्र पर आरूढ़ होकर भ्रमवश भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं देखते। हमें ईश्वर को पाना है। ईश्वर का निवास हृदय में है। हम खोजने कहाँ जावें? अगले ही श्लोक में भगवान आदेश देते हैं- **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।'** (गीता, १८/६२)- अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ, सम्पूर्ण भाव से जाओ। **'तत्प्रसादात्परां शान्तिम्'**- जहाँ शरण गये, उसके कृपा प्रसाद से परम शान्ति प्राप्त कर लोगे, जिसके पीछे अशान्ति नहीं होती। आपको सदा रहने वाला धाम मिलेगा।

किन्तु हृदयस्थित ईश्वर दिखाई नहीं देता। इसका उपाय भगवान बताते हैं कि अर्जुन! इससे भी अति गोपनीय रहस्ययुक्त मेरे वचन को सुन कि **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।'** (गीता, १८/६५) तू मुझे नमस्कार कर, मेरा अनन्य भक्त हो, मुझमें मन लगा, मेरा अर्चन कर। **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।'** (गीता, १८/६६) सारे धर्मों का परित्याग कर (जिन धार्मिक भ्रान्तियों में अर्जुन उलझा ही नहीं था, प्राण देने को तत्पर था, भगवान ने कहा- उन मान्यताओं को दूर फेंक दे। उन्हीं भ्रान्तियों में आज

आप भी उलझे हुए हैं। इन भ्रान्तियों ने देश का देश ही खा डाला। इनके निराकरण के लिए आदिशास्त्र गीताभाष्य यथार्थ गीता देखें।) अर्जुन! एकमात्र मेरी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। पहले दो श्लोक में भगवान ने बताया कि ईश्वर हृदय में रहता है, सम्पूर्ण भावों से उसकी शरण जाओ। अगले दो श्लोकों में कहते हैं- इससे भी अति गोपनीय रहस्य सुन। सम्पूर्ण भावों से मेरी शरण हो, मुझमें मन लगा, बुद्धि लगा, मेरा सुमिरण कर, मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। सारे धर्मों को छोड़, एकमात्र मेरी शरण में आ। अन्ततः भगवान कहना क्या चाहते हैं? भगवान का आशय है कि यदि हृदयस्थ ईश्वर को पाना है तो सद्गुरु की शरण में जाना पड़ेगा। भगवान श्रीकृष्ण महायोगेश्वर थे, सद्गुरु थे। यदि भगवान को पाना है तो किसी तत्वदर्शी महापुरुष की शरण जायँ।

## ६. गीतोक्त साधना -

भगवान कहते हैं- **'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।'** (गीता, ८/११) जिसे प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष अविनाशी कहते हैं, जिनको चाहने वाले ब्रह्मचर्य आदि कठोर व्रतों का पालन करते हैं, जो हृदय में धारण करने योग्य है, उस पद को मैं भली प्रकार कहूँगा- **'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।'** (गीता, ८/१२) अर्थात् इन्द्रियों के सभी दरवाजों को संयमित करके मन को हृदय देश में स्थिर करके, मस्तिष्क में योगविधि को भली प्रकार धारण करके अर्थात् गीतोक्त विधि को धारण करके **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** (गीता, ८/१३)- ॐ, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप करते हुए, **'मामनुस्मरन्'**- मेरे स्वरूप का ध्यान धरते हुए, साधना इतनी उन्नत हो गयी कि **'त्यजन्देहम्'**- जिस क्षण देहाध्यास का त्याग कर जाता है, **'स याति परमां गतिम्'**- वह तत्क्षण परम गति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भगवान ने नाम ओम् का बताया और ध्यान अपना; क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण **'गुरुर्गरीयान्'**-

गुरुओं के भी परम गुरु हैं। ध्यान सद्गुरु का ही किया जाता है क्योंकि भगवान को पाकर वह भी भगवत्स्वरूप हैं। वही तत्त्वदर्शी हैं। यही गुरु का गुरुत्व है।

भगवान कहते हैं- यह गीता धर्ममय अमृत है। **'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।'** (गीता, १२/२०) अर्जुन! इस धर्ममय अमृत को जैसे-जैसे कहा गया, यथावत् जो आचरण करता है वह भक्तों में भी अति प्रिय, उत्तम भक्त मुझे मान्य है। अर्थात् पूरी की पूरी गीता धर्ममय अमृत है। भगवान कहते हैं- **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता, १४/२७) अर्जुन! उस अविनाशी ब्रह्म का, अमृत का, शाश्वत धर्म का और उस अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् सद्गुरु ही एकमात्र आश्रय हैं। जब तक सद्गुरु नहीं मिलते, निवृत्ति दिलाने वाला भजन आरम्भ ही नहीं होता।

## ७. धर्मशास्त्र गीता-

भगवान ने गीता को शास्त्र कहा- **'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।'** (गीता, १५/२०)- हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर मनुष्य पूर्ण ज्ञाता, लोक में समृद्धि (गीता, ७/१६) और परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण की यह वाणी स्वयं में पूर्ण शास्त्र है। भगवान कहते हैं- **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।'** (गीता, १६/२३)- जो पुरुष उपर्युक्त शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा से बरतता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को ही प्राप्त होता है। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।'** (गीता, १६/२४) इसलिए अर्जुन! तेरे इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में कि मैं क्या करूँ, क्या न करूँ - इसके सम्पूर्ण समाधान में यह शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधि से नियत किये हुए कर्म को ही तुझे करना योग्य है।

भारतीय मनीषियों ने शास्त्र को सदैव दो दृष्टियों से लिखा है- एक तो

इतिहास को संरक्षित रखना जिससे लोग पूर्वजों के पदचिन्हों पर चलते हुए मर्यादित जीवन जी सकें, संस्कृति का निर्वाह करते हुए सुखमय जीवन-यापन कर सकें, लेकिन केवल सुखमय जीवन-यापन कर लेने मात्र से कल्याण संभव नहीं है क्योंकि मानव-जीवन जन्म और मृत्यु के बीच का एक पड़ाव ही तो है। किसी ने सुव्यवस्थित जीवन काट ही लिया तो इसमें उसका कल्याण कदापि नहीं है। इसीलिए मनीषियों ने शास्त्र-रचना का दूसरा दृष्टिकोण अध्यात्म अपनाया। हर जीव माया के आश्रित है। इसे माया के चंगुल से निकाल कर आत्मा की अधिकृत भूमि में खड़ा कर देना, आत्मा को जागृत कर परम तत्व परमात्मा तक की दूरी तय करा देना, परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और स्थिति दिला देना अध्यात्म की पराकाष्ठा है। इसलिए महर्षि वेदव्यास ने गौरवपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत के लेखन में भारत की योग साधना कैसी?-इसे गीता के रूप में अलग से प्रस्तुत किया। गीता की स्तुति करते हुए उन्होंने निर्णय दिया- **'गीता सुगीता कर्तव्या'**- गीता को भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करना चाहिए। यह स्वयं भगवान के श्रीमुख से निःसृत वाणी है। जिन भगवान को हम प्रसन्न करना चाहते हैं, उनके श्रीमुख की वाणी है, उनका आदेश है। 'किमन्यै शास्त्रसंग्रहैः'- फिर अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है!

## ८. रामचरितमानस में धर्म -

मानस के अनुसार **'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।'** (मानस, २/९४/५) अर्थात् सत्य के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है जिसकी प्रशंसा वेद, शास्त्र और पुराणों में है। प्रश्न स्वाभाविक है कि सत्य क्या है? तो **'ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।।'** (मानस, १/२२/६)- वह परमात्मा व्यापक है, कण-कण में है, एक है, एक से सवा कभी हुआ नहीं, वह वृहद् है इसलिए ब्रह्म है। वह अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। वह परमात्मा ही सत्य है, चैतन्य है। कोई संकल्प बाद में करता है, परमात्मा पहले से ही जानते हैं कि वह क्या करने जा रहा है। **'घन आनँद रासी'**- वह असीम आनन्द की राशि है। मनुष्य को आनन्द चाहिए,

आनन्द वहाँ पर है। वह है तो सर्वत्र पर दिखाई नहीं देता। उनके शोध की स्थली कहाँ है? तो कहते हैं- **'अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।'** (मानस, १/२२/७)- ऐसा परमात्मा जो सत्य, चैतन्य, आनन्द की राशि है, वह सबके हृदय देश में निवास करता है, द्रष्टा रूप में स्थित है। जैसे- प्रकाश में कोई धार्मिक ग्रन्थ पढ़े या मनोरंजन करे, प्रकाश का काम तो प्रकाश देना है। उसी प्रकार भगवान विकारों से निर्लेप रहकर सबके हृदय में निवास करता है। हृदय देश में ऐसे परमात्मा के होते हुए भी सारा संसार दीन है, दुःखी है। इस दुःख निवारण के लिए, असीम आनन्द की प्राप्ति के लिए उन परमात्मा को विदित कैसे किया जाय?-इसका केवल एक उपाय है- नाम जप। **'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।'** (मानस, १/२२/८)- पहले तो नाम का निरूपण करना चाहिए कि नाम है क्या?, जपा कैसे जाता है? और जब समझ में आ जाय तो दिन-रात उसके लिए यत्न करें, जप प्रारम्भ करें। सतत् अभ्यास के फलस्वरूप वह परमात्मा प्रकट हो जायेगा जैसे रत्न की पहचान होने पर उसकी कीमत झलकने लगती है। **'राम नाम में अन्तर है। कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।'** नाम वही है, किसी ने चौबीस घण्टे जप किया, कुछ कंकड़ हाथ लगे। उसी नाम को किसी ने उतना ही जपा, हीरे हाथ लग गये। नाम जपने की विधि महापुरुषों के द्वारा जागृत होती है, उनके निर्देशानुसार चलना ही भजन है। केवल श्रद्धा समर्पित कर नाम जप के द्वारा उन परमात्मा को, जो आपके हृदय देश में है, जागृत करना भर है। उन परमात्मा के प्रति समर्पण और उनमें श्रद्धा स्थिर करना धर्माचरण है।

नाम जप से भगवान का रूप प्रकट हो जाता है। अब आप ध्यान धरें, ध्यान होने लगता है। नाम से भगवान का रूप आने लगता है, वह आपकी साज-सँभाल करने लगता है। देख-रेख करता है, आपको भजन में बैठाता है, लगाता है, चलाता है, खतरों से अवगत कराते हुए आपका मार्गदर्शन करता है जिसका नाम है लीला कि भगवान साधक को कैसे समझाते हैं। ज्यों-ज्यों

साधक का स्तर उठता जाता है, उसी ऊँचाई से भगवान उसे बताते हैं। उनके निर्देशन में चलते हुए साधक भगवान तक की दूरी तय कर ले जाता है। इसके पश्चात् भगवान का दर्शन, उनका स्पर्श और उनमें स्थिति मिल जाती है। भगवान स्वयं साधक में दृष्टि बन जाते हैं, सामने अपार विभूतियों के साथ स्वयं खड़े हो जाते हैं जिसका नाम है धाम अर्थात् स्थिति - कैवल्य-स्थिति का प्राप्त होना! यही है परम श्रेय की प्राप्ति। इसी के साथ आवागमन से मुक्ति मिल जाती है, मोक्ष पद मिल जाता है, इसलिए सबको चाहिए कि नाम जप करें, एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करके चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय भगवान का नाम-जप चलते रहना चाहिए। नाम जप के लिए कोई जगह अपवित्र नहीं है। आप फूल बिछाकर बैठ जायँ, इत्र छिड़क लें किन्तु यदि मन में श्रद्धा नहीं है, समर्पण नहीं है, भरत की तरह **'गदगद गिरा नयन बह नीरा।'** की प्रेमपूर्ण स्थिति नहीं है तो वह स्थान अपवित्र है, अभी वह नाम जप अपूर्ण है, अधूरा है।

## ६. भजन एक परमात्मा का और उसके अतिरिक्त कोई पूजनीय नहीं है -

भगवान ने काकभुसुण्डी को दर्शन दिया तो वे बड़े उलझन में पड़े कि मेरे ऐसे निकृष्ट प्राणी पर भी प्रभु का इतना अनुग्रह है!-कारण क्या है? भगवान ने समाधान करते तथा उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि-

**एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।।**
**कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।।**
**कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई।।**

(मानस, ७/८६/१-३)

अर्थात् एक पिता के बहुत से लड़के हैं। कोई पंडित है, कोई तपस्वी है, कोई ज्ञाता है, कोई धनवान है, दानदाता है, कोई सर्वज्ञ है, कोई धर्मरत है - इन सब पर पिता का प्रेम समान ही होता है किन्तु उनमें से कोई ऐसा भी है-

**कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा।।**

**सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना।।**

(मानस, ७/८६/४-५)

कोई मन, क्रम, वचन से पिता का भक्त होता है। **'सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।'**- वह पिता को प्राण के समान प्यारा होता है यद्यपि वह सब लक्षणों से हीन है। उसमें केवल एक गुण है कि वह पिता का भक्त है।

**एहिं बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।।**
**अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।।**

(मानस, ७/८६/६-७)

इस विधि के अनुसार तिर्यक (पशु-पक्षी), देवता, मनुष्य, असुर, जड़-चेतन - यह सम्पूर्ण विश्व मेरे द्वारा उत्पन्न है। इसलिए इन सब पर मेरी समान रूप से दया है। किन्तु -

**तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया।।**

**पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।**
**सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।।**

(मानस, ७/८७/क)

वह पुरुष हो, नपुंसक हो, नारि हो, चर-अचर कोई भी जीव हो, कहीं जन्मा हो, कुछ भी कहलाता हो, यदि कपट त्यागकर सम्पूर्ण भाव से मुझे भजता है, वह मुझे परम प्रिय है। यदि कोई मेरा भजन नहीं करता तो **'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।।'** (मानस, ७/८५/९)- यदि वह मेरी भक्ति से विहीन है, तो सृष्टिनिर्माता विधाता ही क्यों न हो, मुझे वह उतना ही प्रिय है जितना सब जीव। और **'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।'** (मानस, ७/८५/१०) भक्ति से संयुक्त अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय हैं। भगवान सार्वभौम हैं, सर्वत्र हैं, चराचर में कोई कहीं जन्मा हो, कुछ भी कहलाता हो, आस्तिक-नास्तिक इत्यादि उपाधियाँ मनुष्य आपस में देता-लेता रहता है, भगवान के यहाँ इनसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान ने तो आपको आस्तिक-नास्तिक नहीं कहा।

जहाँ भी हैं, अब तो मानव तन में हैं, श्रद्धा से जहाँ जिसने स्मरण किया, उसका अभ्युदय होने लगता है। जगतरूपी रात्रि में रहते हुए सभी में उस परमात्मा का क्षीण प्रकाश विद्यमान है। वह पूर्ण प्रकाश के रूप में परिवर्तित होने लगता है, अन्त में दर्शन, स्पर्श और स्थिति मिल जाती है। भगवान के यहाँ केवल श्रद्धा लगती है। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'** (गीता, ४/३९)- श्रद्धावान और संयतेन्द्रिय उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अतः एक परमात्मा के प्रति श्रद्धा और उनमें समर्पण ही धर्माचरण है।

मानस का समापन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने निर्णय दिया-

**सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।।**
**धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।**
**नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना।।**
**सोइ कबि कोबिद सोइ रणधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।।**

(मानस, ७/१२६/१-४)

वह सर्वज्ञ है, गुणी है, ज्ञाता है, पण्डित है, दानदाता है, धर्मज्ञ है। कौन? **'राम चरन जाकर मन राता।'**- राम के चरणों में जिसका मन अनुरक्त है।

**नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।**
**बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।।** (मानस, ३/३६)

गोस्वामी जी कहते हैं कि मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है, वह अधर्म है। बहुत से मत-मतान्तर शोक देने वाले हैं। इन सबको त्यागकर एक परमात्मा राम के चरणों में अनुराग करें। यही धर्म है। इसी एक परमात्मा की शोध और उसकी प्राप्ति की क्रमबद्ध साधना देने से भारत विश्वगुरु था। इस साधना में मनुष्य मात्र का प्रवेश है। भगवान ने कहा- **'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।'** (गीता, ४/३६) अर्जुन! सृष्टि के सारे पापियों से भी तू अधिक पाप करने वाला हो तब भी इस गीतोक्त ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा।

## उपसंहार -

शिक्षा से संसार प्रगति करता आया है। शस्त्र-कौशल से संसार सुरक्षित रहता आया है। लेकिन भारत में शस्त्रविहीन सुरक्षा....। शिक्षाविहीन समाज कि शास्त्र पढ़ोगे तो नरक। जो भारतीय इतने शूरवीर कि तलवार से तो नहीं डरे, मौत से नहीं डरे; आग में कूद गये, नहीं डरे; लेकिन धर्म से काँप गये। किसी ने रुढ़ियों को धर्म-धर्म कहा तो भाग खड़े हुए। पूछा भी नहीं कि धर्म क्या है? अतः धर्म की जानकारी के लिए आप गीता भाष्य 'यथार्थ गीता' की तीन-चार आवृत्ति करें तो सारी भ्रान्तियों का निराकरण हो जायेगा।

'यथार्थ गीता' भगवान की प्रेरणा से लिखी गयी है। इसे जीवन में ढालकर आप सभी सुख-शान्ति व समृद्धि के साथ सदा रहने वाला जीवन और धाम प्राप्त करें। यह 'यथार्थ गीता' सभी बच्चों, नवयुवकों, वयोवृद्धों, स्त्री-पुरुष किंवा मानव-मात्र के पास होनी चाहिए जिससे सभी दुःख-निवारण, धन-धान्य, ज्ञान-जिज्ञासा इत्यादि कामनाओं की पूर्ति करते हुए भगवान का दर्शन, उनका स्पर्श और उनमें स्थिति पाकर जीवन को सार्थक बना सकें - **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।'** (मानस, ७/११३/४)

एक परमात्मा का उपदेश विश्व के जिन-जिन महापुरुषों ने दिया, वे सभी गीता के ही संदेशवाहक हैं क्योंकि सर्वशक्तिमान एक परमात्मा की शोध उन सबसे बहुत पहले गीता में है। एक परमात्मा कहना बहुत आसान है, किन्तु उस परमात्मा को अपने हृदय में जागृत करने, परमात्मा से बातें करने, उनका दर्शन करने, उनका स्पर्श और उनमें स्थिति प्राप्त करने की क्रमबद्ध साधना गीता में है, और कहीं नहीं है। मानव-तन पाकर भी यदि आपने गीतोक्त साधना को, जिसमें आरम्भ का नाश नहीं है, उस विधि को जागृत नहीं कर लिया जिससे भगवद्पर्यन्त दूरी तय होती है तो यह आपकी अपनी अपूरणीय क्षति है। किसी पर एहसान न भी करें तब भी अपने बाल-बच्चों, परिजनों तथा समाज के विकास के लिए अवश्य पढ़ें- 'यथार्थ गीता'।

**।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ।।**